अध्याय 9

जाति की अवधारणा, प्रकृति एवं उत्पत्ति

[CONCEPT, NATURE AND ORIGIN OF CASTE]

"दुर्भाग्यवश वही जाति-प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।" —डॉ. राधाकृष्णन

भारतीय जाति-प्रथा अपनी तरह की विचित्र और रोचक संस्था है। धर्म की सीमा से बाहर हिन्दुओं का जो कुछ अपनापन है, उसकी अनोखी अभिव्यक्ति यह जाति-प्रथा है। वास्तव में यह संस्था हिन्दू जीवन को दूसरों से पृथक् कर देती है क्योंकि सैकड़ों भारतीय और विदेशी विद्वानों का ध्यान इस संस्था की ओर आकर्षित हुआ है।

निश्चित अर्थ में भारत जाति प्रथा का आगार है और यहाँ शायद ही कोई सामाजिक समूह ऐसा हो जो इसके प्रभाव से अपने को मुक्त रख सका हो। मुसलमान और ईसाई तक भी इसके पंजे में फँस चुके हैं; चाहे उसका स्वरूप ठीक वैसा न हो जैसा हिन्दुओं में है। दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ में जाति-प्रथा इतनी जटिल न थी जितनी बाद में हुई। समय के परिवर्तन के साथ इसका स्वरूप भी परिवर्तित होता गया और अन्त में यह न केवल जटिल बल्कि विचित्र भी हो गई। आज भारतवर्ष में लगभग 3,000 जातियाँ और उपजातियाँ हैं और उनके अध्ययन के लिए, जैसा **श्री हट्टन** का कथन है, विशेषज्ञों की एक सेना की आवश्यकता होगी। यही कारण है कि असंख्य विद्वानों ने इस जाति-प्रथा के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने इस जाति-प्रथा का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानों ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाया है तो कुछ ने जाति-प्रथा की गतिशीलता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए आधुनिक समय में जाति-प्रथा में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया है। ऐसे भी अनेक विद्वान हैं जिन्होंने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में जाति-प्रथा के महत्व या कार्यों का निरूपण किया है, फिर भी सम्पूर्ण भारतीय जाति-प्रथा का पूर्ण विश्लेषण व निरूपण पूर्ण रूप से आज भी प्रस्तुत किया जा रहा है या नहीं, इस विषय में अब भी सन्देह है। अत: इस अध्याय में हम जाति-प्रथा के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक एक विनम्र रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सकेंगे।

जाति का अर्थ व परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Caste)

अंग्रेजी का 'Caste' शब्द पुर्तगाली शब्द *casta* से बना है जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। इस अर्थ में जाति-प्रथा प्रजातीय या जन्मजात भेद के आधार पर एक व्यवस्था है परन्तु जैसा आगे चलकर स्पष्ट होगा, भारतीय जाति-प्रथा इस आधार पर नहीं समझी जा सकती।

अंग्रेजी का 'Caste' शब्द पुर्तगाली (Portuguese) शब्द 'Caste' से बना है जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। 'Caste' शब्द का लैटिन (Latin) शब्द '*Castus*' से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसका अर्थ 'विशुद्ध' या 'अमिश्रित' (pure) या 'जाति' है। इस प्रकार जाति का अर्थ वंशानुसंक्रमण (heredity) पर आधारित एक विशेष सामाजिक समूह से लगाया जाता है और भी स्पष्ट शब्दों में, जाति-प्रथा जन्मगत भेद के आधार पर एक व्यवस्था का नाम है। कहने का तात्पर्य यह है कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत ऊँच-नीच का जो संस्तरण होता है, उसका व्यवसाय, धन, शिक्षा या धर्म न होकर केवल जन्म होता है।

श्री कूले (Cooley) ने **'जाति' की परिभाषा करते हुए कहा है, "जब कोई वर्ग पूर्णत: वंशानुसंक्रमण पर आधारित होता है तो उसे जाति कहते हैं।"[1]**

---

1. "When a class is somewhat strictly hereditary, ..."

सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के अनुसार, "जाति एक बन्द वर्ग है।"[1] सर हरबर्ट रिजले (Sir Herbert Risely) ने जाति-प्रथा की परिभाषा करते हुए लिखा है, "जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन होता है और इनका एक सर्वमान्य नाम होता है, ये लोग एक काल्पनिक पूर्वज या देवता से एक सर्वसामान्य वंश-परम्परा या उत्पत्ति का दावा करते हैं, एक ही परम्परागत व्यवसाय को अपनाने पर बल देते हैं और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपना मत व्यक्त करने के योग्य हैं।"

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति-प्रथा जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण (चढ़ाव-उतार) और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो खाने-पीने, विवाह, पेशे आदि के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है।

जाति की प्रकृति : जाति-प्रथा की संरचनात्मक और संस्थात्मक विशेषताएँ (Nature of Caste : Structural and Institutional Characteristics of Caste System)

श्री केतकर (Kethar) ने जाति-प्रथा की दो प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है—(1) जाति की सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो उस समूह के सदस्यों की सन्तान हैं और इस प्रकार जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति एक जाति विशेष के अन्तर्गत आते हैं; (2) किसी जाति के सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह (जाति) के बाहर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से रोक दिये जाते हैं।

डॉ. घुरिये ने जाति-प्रथा के संरचनात्मक और संस्थात्मक दोनों पक्षों को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. **समाज का खण्डात्मक विभाजन** (Segmenetal Division of Society)—भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, स्थान और कार्य भी निश्चित हैं। इस प्रकार खण्ड-विभाजन का तात्पर्य, डॉ. घुरिये के अनुसार, यह है कि "जाति-प्रथा द्वारा आबद्ध समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है और समग्र समुदाय के प्रति न होकर एक जाति के सदस्यों का रहते अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्त्तव्य-बोध होता है।" वे इन नैतिक नियमों या कर्त्तव्य-बोध के द्वारा अपने पद और कार्य पर दृढ़ रहते हैं और यदि कोई इसको तोड़ता है तो उस पर जुर्माना होता है और कभी-कभी उसे जाति से निकाल दिया जाता है। इसी अर्थ में एक जाति के सदस्यों में सामुदायिक भावना सीमित होती है।

2. **संस्तरण** (Hierarchy)—जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित विभिन्न खण्डों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण व उतार-चढ़ाव होता है और इसमें परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जाति का स्थान जन्म पर आधारित होता है। इस संस्तरण में सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों की स्थिति होती है, इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान क्रमश: निम्न होता गया है। यह संस्तरण मुख्यत: जन्म पर आधारित होने के कारण बहुत कुछ स्थिर व दृढ़ है और इसी कारण साधारणतया इस संस्तरण में ऊँचे स्तर पर उठना असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, धन, प्रतिष्ठा, सत्ता व अपरिचिता के आधार पर नीचे की जाति के सदस्य ऊपर की जाति में जा सकते हैं। वास्तव में सबसे ऊपर की स्थिति वाले ब्राह्मण तथा सबसे नीचे की स्थिति वाली अछूत जाति के बीच में जो अनेक जातियाँ हैं, जातीय संस्तरण में उनकी वास्तविक स्थिति को निश्चित करने की समस्या गम्भीर है। प्राय: ये जातियाँ किसी-न-किसी ऊँची जाति से अपना सम्बन्ध जोड़कर अपनी सामाजिक स्थिति को बताती हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसा करना उनके लिए लाभदायक भी है क्योंकि अपने से ऊँची जाति से सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने में सफल होने पर उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। सामाजिक मर्यादा या प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिए मनुष्य जो-जो प्रयत्न करता है, उनमें से उपर्युक्त प्रयत्न भी एक है। अत: जातीय संस्तरण में विभिन्न जातियों की स्थिति वास्तव में अस्थिर कही जा सकती है, पर इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ब्राह्मणों और अछूतों की स्थिति जातीय संस्तरण में बहुत कुछ स्थिर है क्योंकि ब्राह्मणों का, जो सबसे ऊँचे स्तर पर हैं, और ऊपर जाना या अछूतों का, जो सबसे नीचे की स्थिति पर हैं, और नीचे जाना सम्भव नहीं है परन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है, इन दो छोरों के बीच में जो असंख्य जातियाँ हैं, वे अपने को अपनी पास वाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ समझने लगती हैं।

[1] "Caste is a close corporate group." *An Introduction to Social Anthropology.*

3. **भोजन पर सामाजिक प्रतिबन्ध** (Social Restriction on Feeding)—जाति-प्रथा के निषेधात्मक नियमों में भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध उल्लेखनीय है। प्रत्येक जाति को दूसरी जाति के हाथ का बना भोजन खाने की आज्ञा नहीं है। जातीय नियमों से यह स्पष्ट होता है कि एक जाति के सदस्य किन जातियों के सदस्यों के हाथ का बना हुआ भोजन खा सकते हैं और किन जातियों के सदस्यों के साथ बैठकर खा सकते हैं। ब्राह्मणों के हाथ का बना भोजन दूसरी सभी जातियों के सदस्य खा लेते हैं। सबसे अधिक प्रतिबन्ध अछूतों के हाथ के बने भोजन पर है। भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भोजन के प्रकारों पर भी निर्भर है। इस दृष्टिकोण से भोजन को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है—फलाहारी, पक्का और कच्चा। फलाहारी भोजन में फल, दूध तथा दूध से बनी चीजें, पक्के भोजन में तेल या घी में तली चीजें, जैसे—पूड़ी, कचौड़ी आदि तथा कच्चे भोजन में पानी में उबाले हुए चावल, दाल तथा रोटियाँ आती हैं। प्रत्येक जाति में इस प्रकार के नियम हैं कि एक व्यक्ति ये तीन प्रकार के भोजन किनके हाथों का बना खा सकता है? बंगाल, गुजरात और दक्षिण भारत में कच्चे और पक्के भोजन का कोई भेद नहीं माना जाता है। माँसाहारी भोजन शाकाहारी भोजन से नीचे समझा जाता है। माँसाहारी भोजन में भी ऊँच-नीच का भेदभाव है, जैसे सूअर का गोश्त बकरे के गोश्त से नीचा माना जाता है क्योंकि सूअर गन्दा खाना खाता है। माँसाहारी भोजन और निकृष्ट श्रेणी का माँसाहारी भोजन करने वाले व्यक्तियों की स्थिति भारतीय जाति-संस्तरण में नीची समझी जाती है। इसी प्रकार पानी पीने के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध माने गए हैं।

4. **विभिन्न जातियों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार** (Civil and Religious Disabilities and Privilages of the Different Sections)—जाति-प्रथा की एक अन्य विशेषता छुआछूत के आधार पर विभिन्न जातियों का सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यता या विशेषाधिकार प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त है और सबसे अधिक निर्योग्यताएँ हरिजनों के लिए हैं। दक्षिण भारत में हरिजनों की अवस्था वास्तव में दयनीय थी। वे उच्च जाति के लोगों को छूना तो दूर रहा, उनको अपनी शक्ल भी नहीं दिखा सकते थे। ट्रावनकोर, पूना आदि स्थानों में अनेक सड़कों पर उनके चलने की आज्ञा न थी। इसी प्रकार उनको न तो मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार था, न स्कूलों में पढ़ने का और न ही उन कुओं और तालाबों से पानी भरने का जिनको उच्च जाति के लोग व्यवहार में लाते थे। गाँवों में तो इस प्रकार के प्रतिबन्ध और भी कठोर होते थे और हरिजनों को किसी भी प्रकार का सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं होता था। गाँवों में हरिजनों को बस्ती से बाहर रहना पड़ता था।

5. **पेशों के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव** (Lack of Unrestricted Choice of Occupations)—प्राय: प्रत्येक जाति कुछ पेशों को अपना परम्परागत पेशा मानती है और उसे छोड़ना उचित नहीं समझा जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण पुरोहित के काम को और चमार* जूते बनाने के काम को ही करना ठीक समझते हैं। साधारणतया ऐसा ही होता है और जाति-प्रथा का नियम भी यही है। साथ-ही-साथ केवल जातियों का ही नहीं बल्कि उनके द्वारा किए जाने वाले पेशों में भी उच्चता और निम्नता होती है। जिन पेशों में एक व्यक्ति को अपवित्र वस्तुओं के सम्पर्क में आना होता है, उन पेशों को नीचा माना जाता है। अपवित्र वस्तुओं में भी एक ऊँच-नीच संस्तरण है। मल-मूत्र सबसे अधिक अपवित्र है। इसी प्रकार चमड़े का काम और गन्दे कपड़े धोने का काम दो पृथक् श्रेणी के व्यक्तियों का होता है। इनके विपरीत धर्म से सम्बन्धित समस्त कार्य परम पवित्र माने जाते हैं और यही कारण है कि इन कार्यों को करने वाले ब्राह्मणों की स्थिति जातीय संस्तरण में 'सर्वमान्य रूप' में सबसे ऊपर है। इस प्रकार पेशों की उच्चता और निम्नता तथा उनके चुनाव के सम्बन्ध में जाति के कुछ निश्चित नियम होते हैं। फिर भी कुछ ऐसे पेशे हैं जिन्हें प्रत्येक जाति के सदस्य चुन सकते हैं, जैसे—खेती, व्यापार, सेना की नौकरी आदि। "न केवल उच्च जाति के व्यक्ति ही अपनी जाति के व्यक्तियों को अन्य पेशों को चुनने से रोकते हैं अपितु अन्य जाति के व्यक्ति भी अनेक प्रकार से उन्हें रोकने का प्रयास करते हैं।" परन्तु मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् पेशा सम्बन्धी प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दुर्बल ही होता गया और जैसा **श्री बेन्स** का कथन है, "**जाति का पेशा परम्परागत होता है परन्तु यह किसी भी अर्थ में आवश्यक नहीं है कि उसी के द्वारा सब या अधिकतर जातियाँ आज अपनी जीविका निर्वाह करती हैं।**" यही कारण है कि मुगलकाल से यह देखा गया है कि ब्राह्मण

* उपरोक्त विवरण में जजमानी व्यवस्था को उसके वास्तविक रूप में स्पष्ट करने के लिए जो जाति सूचक शब्द प्रयोग किए गए हैं

अपने परम्परागत पेशों के अतिरिक्त अन्य पेशों को भी चुनना शुरू कर दिया था, पर इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कारीगर जातियों ने अपनी जाति के पेशों की रक्षा अधिक दृढ़ता से की है।

6. **विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध** (Restriction on Marriage)—प्रत्येक जाति में विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। उनमें अन्तर्विवाह का नियम सबसे प्रमुख है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों में विभाजित है और प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही समूह है अर्थात् अपनी उपजाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं है। **श्री वेस्टरमार्क** जाति-प्रथा की इस विशेषता से इतने ज्यादा प्रभावित हुए हैं कि आपने अन्तर्विवाह को '**जाति-प्रथा का सार**' माना है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक रूप में "एक ही वर्ण की दो उपजातियों की एक भौगोलिक सीमा पर रहने वाले व्यक्ति आपस में विवाह कर लेते हैं, उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश में ब्राह्मणों की चार मुख्य उपजातियाँ हैं—सरयूपारी, कान्यकुब्ज, सनाढ्य और गौड़। पर्वतों में रहने वाले गढ़वाली और कूमाँचली ब्राह्मण, सारस्वत, त्यागी आदि इस प्रदेश के ब्राह्मणों की अन्य उपजातियाँ हैं जिनकी संख्या अधिक नहीं है। इटावा जिला सनाढ्यों और कान्यकुब्जों की भौगोलिक सीमा पर है। यहाँ इन दोनों उपजातियों में विवाह होते हैं। कान्यकुब्ज सनाढ्यों की लड़की ले लेते हैं परन्तु इन्हें अपनी लड़की नहीं देते। अलीगढ़ और बुलन्दशहर जिले के सनाढ्यों और गौड़ों की सीमा पर स्थित हैं। सनाढ्यों और गौड़ों में समानता के आधार पर विवाह होते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों की विभिन्न जातियों और उपजातियों में भी विवाह पाए जाते हैं, पर वे विवाह एक ही भोगौलिक और भाषा सम्बन्धी क्षेत्र में पाए जाते हैं। भौगोलिक और भाषा सम्बन्धी क्षेत्र में भिन्नता के साथ-साथ अन्तर्विवाह नियम भी कठोर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में भी अन्तर्विवाह के नियमों के अनुसार ही विवाह किया जाता है, यद्यपि ये एक ही जाति के होते हैं। उदाहरणार्थ, आम तौर पर एक बंगाली ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होते हैं।"

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, शिक्षा के विस्तार, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव, यातायात के साधनों में उन्नति, हरिजन आन्दोलन और सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप उपर्युक्त सभी प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि इस झुकाव को देखते हुए कुछ लोग तो जाति-प्रथा के भविष्य के सम्बन्ध में निराश हो चुके हैं। यद्यपि इस प्रकार का दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है, फिर भी वर्तमान परिस्थितियों के दबाव या प्रभावों से जाति-प्रथा में होने वाले परिवर्तनों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जाति प्रथा की उत्पत्ति
(ORIGIN OF CASTE)

भारतीय जाति-प्रथा एक अत्यधिक जटिल संस्था है और प्रायः एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्वक अनुसंधान के पश्चात् भी हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि इस अनोखी सामाजिक संस्था के निर्माण और विकास में किन-किन अवस्थाओं की देन या योग रहा होगा? परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस संस्था के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन भी सबसे अधिक हुआ है। वेद, महाकाव्य, पुराण आदि के लेखकों से लेकर अनेक यूरोपीय और भारतीय विद्वानों तक ने इसके बारे में अध्ययन किए हैं और अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मा के चार अंगों से चार जातियों की सृष्टि हुई है, पर **श्री नेसफील्ड** पेशे और केवल पेशे को, **रिजले** प्रजातीय भिन्नता को और **होकार्ट** धर्म को जाति-प्रथा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। इस रूप में यह स्पष्ट है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपना अलग-अलग सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। अतः जितने लेखक हैं, उतने ही सिद्धान्त भी हैं। हम उनमें से केवल कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे—

1. परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)

इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना मनु ने प्रस्तुत की है, यद्यपि इसकी सबसे प्राचीन व्याख्या ऋग्वेद के मन्त्र से मिलती है। इसके अनुसार ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जाँघ से और शूद्र पैर से पैदा हुए। मनु ने इसी आधार पर प्रत्येक जाति के कार्यों को भी निश्चित कर दिया क्योंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से हुई और मुख बोलने का साधन है इसलिए ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन करना, शिक्षा देना आदि है जिससे वेदों की रक्षा हो सके। बाहु शक्ति का द्योतक है, इसलिए क्षत्रियों का कार्य शक्ति से सम्बन्धित कार्य है, जैसे—अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करना, उनको शिक्षा देना, सेना में कार्य करना, जीवन और धन की रक्षा करना जिससे समुचित राज्य-व्यवस्था स्थापित हो सके। इसी प्रकार वैश्यों का कार्य कृषि करना, व्यापार करना आदि है और पैरों से उत्पत्ति होने के कारण शूद्रों का कार्य ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना है।

समालोचना—(1) ब्रह्मा से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के विपक्ष में यह सरलता से कहा जा सकता है कि आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी अलौकिक कल्पना पर हम विश्वास नहीं कर सकते।

(2) प्रतिलोम विवाह से नयी जातियों की उत्पत्ति की कल्पना भी पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि नयी जातियों की उत्पत्ति में अनेक कारणों का योग माना जाता है।

2. राजनैतिक सिद्धान्त (Political Theory)

प्रारम्भिक यूरोपीय विद्वानों ने जाति-प्रथा को ब्राह्मणों द्वारा आयोजित एक चतुर और राजनैतिक योजना का रूप दिया है। इसमें फ्रेंच विद्वान **श्री अबे डुबॉयस** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपके मतानुसार, "**जाति-प्रथा ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई एक चतुर याजना है**" जो ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता को चिरस्थायी रखने के लिए रची थी। अन्य प्राचीन संस्कृतियों की भाँति भारतवर्ष में भी प्राचीनकाल में धर्म का महत्व अत्यधिक था और धर्म से सम्बन्धित व्यक्तियों अर्थात् ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊँची रही होगी। अपनी इस ऊँची स्थिति से फायदा उठाने के लिए ब्राह्मणों ने चतुराई से काम लिया और सामाजिक विभाजन के संस्तरण की एक ऐसी योजना बनाई जिसके अन्तर्गत उनका अपना स्थान सबसे ऊपर रहा है और उनके उन समर्थकों को दूसरा स्थान मिला जो अपने बाहुबल से ब्राह्मणों के स्वार्थ की रक्षा कर सकें। दूसरे स्थान पर वह शक्तिशाली समूह क्षत्रियों का था। अपनी स्थिति से ही लाभ उठाकर ब्राह्मणों ने यह प्रमाणित कर दिया कि उनका तथा उनके समर्थकों का पेशा अन्य लोगों से श्रेष्ठ है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति इसी के फलस्वरूप हुई।

श्री इबेटसन और **डॉ. घुरिये** ने भी आंशिक रूप में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। **डॉ. घुरिये** ने स्पष्ट लिखा है कि "जाति-प्रथा इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है।"[1]

समालोचना—जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक विषय में ब्राह्मणों को भी सुविधाएँ और विशेषाधिकार प्राप्त हैं। उन्हें देखकर स्वभावत: यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यह व्यवस्था ब्राह्मणों के द्वारा ही बनाई गई है परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जाति-प्रथा भारतीय समाज की एक अति प्राचीन मौलिक संस्था है जिसकी कृत्रिम रचना सम्भव नहीं। कृत्रिमता स्थिरता को प्राप्त नहीं होती और न ही यह विश्वास किया जा सकता है कि दो हजार वर्ष तक ब्राह्मणों की इस 'चतुर योजना' को कोई समझ नहीं सका और ब्राह्मण सबको बेवकूफ बनाते रहे। हाँ, इतना अवश्य है कि इस प्रथा की उत्पत्ति और निरन्तरता को बनाए रखने में ब्राह्मणों का बड़ा हाथ है।

3. धार्मिक सिद्धान्त (Religious Theory)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में **सर्वश्री होकार्ट** और **सेनार्ट** इन दो विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

होकार्ट का सिद्धान्त (Theory of Hocart)—**श्री होकार्ट** के मतानुसार समाज का विभाजन धार्मिक सिद्धान्तों और प्रथाओं के कारण हुआ है। उनके अनुसार जाति-प्रणाली देवताओं की भेंट चढ़ाने का संगठन है। प्राचीन भारत में धर्म का महत्व अत्यधिक था और उसकी एक सामान्य अभिव्यक्ति देवताओं को बलि चढ़ाने की प्रथा थी। पशुओं की बलि देने का काम करने को प्रत्येक व्यक्ति राजी नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार पशुओं की हत्या धर्म से सम्बद्ध होने पर भी कुछ निकृष्ट या अपवित्र स्तर का कार्य है। अत: ऐसे कार्यों को करने के लिए कुछ ऐसे लोगों की सेवाओं की आवश्यकता हुई जिनकी स्थिति समाज में नीची थी या जो दास आदि होते थे। इसी प्रकार, धर्म के अन्तर्गत अन्य अनेक कृत्य भी सम्मिलित होते हैं और इन कृत्यों को करने के लिए विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, पूजा-पाठ के लिए ब्राह्मणों की तथा फूल-माला आदि के लिए माली की सेवाओं की जरूरत होती है। कालान्तर में आर्थिक कृत्यों से सम्बद्ध विशिष्ट सेवाओं को करने वालों का एक-एक पृथक् समूह (या जाति) बन गया और जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई।

समालोचना—(1) **श्री होकार्ट** के सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि आप यह भूल जाते हैं कि जाति-प्रथा एक सामाजिक संस्था है, पूर्णतया एक धार्मिक संस्था नहीं। इस सामाजिक संस्था में धार्मिक तत्व हो सकते हैं, पर धर्म ही सब कुछ नहीं है। इस कारण इसकी उत्पत्ति में धर्म को अधिक-से-अधिक एक सहायक कारण माना जा सकता है, मुख्य कारण नहीं।

---

[1] "...we conclude that caste in India is a Brahmanic child of the Indo-Aryan culture cradled in

(2) यह सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता कि विभिन्न जातियों में खान-पान और विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध क्यों है?

जाति-प्रथा के उपर्युक्त दोनों व्यावहारिक पक्ष श्री होकार्ट के सिद्धान्त से इस कारण निकल गए कि आपने स्वयं आकर भारतीय जाति-प्रथा का अध्ययन कभी नहीं किया।

सेनार्ट का सिद्धान्त (Theory of Senart)—एक अर्थ में श्री सेनार्ट ने श्री होकार्ट के सिद्धान्त की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। आपने भोजन-सम्बन्धी निषेधों के आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाया है। आपका कथन है कि भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध पारिवारिक पूजा और कुल-देवता में भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ क्योंकि एक देवता पर विश्वास करने वाले अपने को एक वंश तथा एक अलौकिक बन्धन द्वारा बंधे हुए मानते थे और अपने देवता को एक विशेष प्रकार का भोजन (भोग) चढ़ाते थे। इन्हीं विभिन्नताओं के आधार पर एक प्रकार के देवता को मानने वालों ने दूसरे प्रकार के देवता को मानने वालों से अपना विभेद रच लिया। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह थी कि आर्यों के आने से भारत में मिश्रित प्रजातीय समूह बने। इससे आर्यों की और से प्रजातीय शुद्धता एवं धार्मिक पवित्रता इत्यादि की भावना और भी कटु हो गई। इन विचारों ने नये समूहों को अलग रखने तथा अपने को सुप्रतिष्ठित करने के लिए अपने नैतिक बल के प्रयोग द्वारा धर्म के आधार पर अपनी स्थिति को सबसे ऊपर रखते हुए जाति-प्रथा का निर्माण किया।

समालोचना—(1) इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए श्री डालमैन ने लिखा है कि सेनार्ट ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति को इतना सरल बना दिया है कि वह वैज्ञानिक नहीं रह गई है।

(2) श्री सेनार्ट का केवल धार्मिक तत्वों के आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न अनुचित है क्योंकि जाति-प्रथा जैसी सामाजिक संस्था की उत्पत्ति एक कारण से कदापि सम्भव नहीं। जाति-प्रथा की उत्पत्ति से प्रजातीय, आर्थिक आदि कारणों की अवहेलना करना वास्तविकता को टालना है।

(3) श्री सेनार्ट ने जाति और गोत्र में भी भ्रम पैदा कर दिया है। गोत्र ही एक सामान्य पूर्वज की कल्पना करते हैं, न कि जाति, जैसी श्री सेनार्ट ने कल्पना की है।

4. व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)

पेशों के आधार पर जाति-प्रथा की व्याख्या श्री नेसफील्ड ने प्रस्तुत की। आपके सिद्धान्त का केन्द्रीय भाव यह है कि "पेशा और केवल पेशा ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।"[1] आगे आपने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि विभिन्न जातियों में भेद केवल पेशा या कार्य के आधार पर है और पेशे की ऊँच-नीच या अच्छाई-बुराई के अनुसार ही जाति प्रथा के ऊँच-नीच का संस्तरण हुआ है। ऐसा संस्तरण स्वाभाविक है और सभी समाजों में मिलता है। इस सम्बन्ध में श्री नेसफील्ड का कथन है कि जाति-प्रथा के सम्बन्ध में धर्म का कोई भी महत्व नहीं और न ही प्रजातीय सम्मिश्रण या शारीरिक लक्षणों के आधार पर जातियों को एक-दूसरे से पृथक् किया गया था। जो कुछ भी भिन्नता या भेदभाव है, वह सभी पेशों की ऊँच-नीच पर आधारित है।

समालोचना—(1) श्री हट्टन का कथन है कि अगर पेशों के आधार पर ही ऊँच-नीच का भेदभाव है तो क्या कारण है कि देश में विभिन्न भागों में रहने वाले और एक ही तरह के पेशे करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक स्तरों में इतना अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत में खेती करने वाली जातियों का स्थान काफी नीचा है परन्तु उत्तरी भारत में अगर ऊँचा नहीं तो भी सम्मानीय अवश्य है। क्या भारतवर्ष में जितने भी लोग खेती करते हैं, सब एक ही जाति के हैं? ऐसा कदापि नहीं है।

(2) श्री नेसफील्ड का यह कथन भी सही नहीं प्रतीत होता कि जाति-प्रथा के विकास में धर्म का कोई भी योग नहीं है। सामाजिक संस्था होने पर भी जाति-प्रथा में धार्मिक तत्व पाए जाते हैं, यद्यपि धर्म को मुख्य कारण मानना भी अनुचित होगा।

(3) डॉ. मजूमदार का कथन है कि इस सिद्धान्त की एक बड़ी कमी यह है कि इसमें प्रजातीय दृष्टिकोण की भी अवहेलना की गई है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय भिन्नताओं की उपेक्षा उचित न होगी। आपके शब्दों में, "हो सकता है कि ऊँची जातियों में अधिक प्रजातीय अन्तर न हो, हो सकता है कि विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश या उसके किसी हिस्से में रहने वाले समूहों में शारीरिक विशेषताओं का अत्यधिक अन्तर न हो, फिर भी कुछ

1 "Function and function alone is responsible for the origin of the caste-system."
Nesfield, *Brief View of Caste-System*, p. 48

प्रजातीय अन्तर 'ऊँचे' और 'नीचे' सामाजिक समूहों में अवश्य हो हैं और वह बात उनके लिए स्पष्ट है जो देश को और उसकी जनता को जानते हैं।"

5. आर्थिक या उद्विकासीय सिद्धान्त (Economic or Evolutionary Theory)

यह सिद्धान्त श्री नेसफील्ड के व्यावसायिक सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक श्री इबेटसन हैं। आपका मत है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति चार वर्गों के आधार पर नहीं बल्कि आर्थिक संघों से हुई है। वर्ग से संघ और संघ से जाति का विकास हुआ है।

प्रारम्भ में मानव खानाबदोशी स्तर पर था और प्रायः रक्त-सम्बन्धी समूह का सदस्य होकर एक स्थान पर रहता था। इस कारण इस स्तर में जाति-प्रथा का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसके बाद लोगों ने खेती को अपनाया और फिर धीरे-धीरे उद्योग और व्यापार भी पनपता गया जिससे आर्थिक जीवन भी जटिल होने लगा। आर्थिक व्यवस्था जटिल होने के साथ-साथ श्रम-विभाजन की आवश्यकता हुई और राजा का यह कर्त्तव्य हो गया कि वह अपनी आर्थिक गति को श्रम-विभाजन और पेशे की भिन्नता के आधार पर निर्धारित करे। इससे सामाजिक वर्गों का जन्म हुआ। इसी के आधार पर एक तरह के पेशे करने वाले आपस में एक दृढ़ सामुदायिक भावना में बँध गए और एक-दूसरे की सहायता और रक्षा करने लगे और अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए प्रत्येक वर्ग ने पृथक्-पृथक् संघों का निर्माण किया। पेशे के आधार पर ऐसे प्रत्येक संघ ने सामुदायिक भावना के कारण और अपने संघ को महत्ता बढ़ाने और बनाए रखने के लिए और साथ ही व्यवसाय-सम्बन्धी रहस्यों को छिपाए रखने के उद्देश्य से न केवल दूसरे संघों से विवाह आदि के सम्बन्ध में पृथक्ता की नीति को अपनाया बल्कि अपनी प्रतिष्ठा के लिए बराबर संघर्ष भी करते रहे। इस संघर्ष में पुरोहितों की श्रेणी या संघ की विजय हुई और उन लोगों ने अपनी महत्ता को चिरस्थायी करने के लिए अपने पेशे का दृढ़ता से पालन किया और अन्तर्विवाह करना आरम्भ किया। इसकी नकल दूसरे संघों ने भी की और दिन-प्रतिदिन अन्तर्विवाही संघों की संख्या बढ़ने लगी और एक संस्तरणात्मक संगठन (hierarchical organization) की स्थापना हुई। यही जाति-प्रथा का प्रारम्भिक रूप था।

समालोचना—(1) श्री हट्टन के अनुसार श्री इबेटसन का यह सिद्धान्त इसलिए सही नहीं है कि व्यावसायिक संघ दुनिया के प्रायः सभी समाजों में पाए जाते हैं। फिर क्या कारण है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति केवल भारत में ही हुई। पेशा जाति-प्रथा के विकास में मदद करने वाला एक अंग है, न कि उसे जन्म देने वाली धात्री।

(2) डॉ. मजूमदार उपर्युक्त आलोचना को उचित न मानते हुए कहते हैं कि सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें सामाजिक समूहों के प्रजातीय भेदों की उपेक्षा की गई है, इसके अतिरिक्त यह विश्वास करना भी कठिन है कि भारतीय जाति-प्रथा जैसे जटिल सामाजिक संस्तरण या भेदाभेद का जन्म केवल पुरोहितों के द्वारा सामाजिक विभाजन और उनसे अपने प्रभुत्व को बनाए रखने की इच्छा के कारण हुआ है।

6. प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)

सर हरबर्ट रिजले ने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया था। ऐसे तो अन्य अनेक विद्वानों ने जाति-प्रथा के निर्माण में प्रजातीय तत्वों के महत्व को स्वीकार किया है। उनमें से विदेशी विद्वानों में **सर्वश्री मैकाइवर, मैक्स वेबर, क्रोबर** आदि के नाम और स्वदेश में **सर्वश्री एस. सी. राय, एन. के. दत्ता, घुरिये** और **मजूमदार** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हम यहाँ **सर रिजले, डॉ. घुरिये** और **डॉ. मजूमदार** के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे।

(i) रिजले का सिद्धान्त (Theory of Risley)—श्री रिजले के सिद्धान्त का मूल आधार (अ) प्रजातीय भिन्नता और (ब) अनुलोम विवाह-प्रथा है। आपके अनुसार जाति-प्रथा की उत्पत्ति इण्डो-आर्यन प्रजाति के फारस से भारत में आने के बाद हुई है। फारस में उनका समाज चार भागों में विभाजित था। विभाजन के सिद्धान्त को आर्यों ने भारतीय समाज पर भी लागू किया। इसके अतिरिक्त यहाँ के मूल निवासियों (जिनको आर्यों ने हराया था) और आर्यों में अनेक सांस्कृतिक और प्रजातीय या शारीरिक भिन्नताएँ थीं जिनके कारण वे दोनों पूर्ण रूप से घुल-मिल नहीं पाए और पृथक्ता बनी रही।

दूसरी ओर चूँकि आर्य लोग आक्रमणकारी के रूप में भारत में आए थे, इस कारण उनके पास स्त्रियों की नितान्त कमी थी। इस कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने एक 'योजना बनाई जिसके अनुसार आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों की लड़कियों से अपने लड़कों के विवाह को स्वीकार किया और इस प्रकार 'अनुलोम' विवाह-प्रथा को

जन्म दिया परन्तु साथ ही आर्यों ने अपनी लड़कियों का विवाह मूल निवासियों के साथ करना स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार 'प्रतिलोम' विवाह का प्रतिबन्ध लगाया। अनुलोम विवाह तब तक चलता रहा जब तक स्त्रियों की आवश्यकता पूरी न हो गयी, आवश्यकता पूरी होते ही ऐसे विवाह को बन्द कर दिया गया और विभिन्न आक्रमणकारी समूह, जातियों के रूप में बदल गए। दूसरे शब्दों में, अनुलोम विवाह के द्वारा प्रजातीय मिश्रण के फलस्वरूप ही विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुईं।

(ii) **घुरिये का सिद्धान्त (Theory of Ghurye)**—आपका सिद्धान्त इसी निष्कर्ष को लेकर प्रारम्भ होता है कि जाति-प्रथा के कुछ पहलुओं का जन्म गंगा के मैदान में हुआ था क्योंकि यहीं पर ब्राह्मणों से सम्बन्धित इण्डो-आर्यन सभ्यता का विकास हुआ था। इण्डो-आर्यन प्रजाति भारत में ईसा के 2500 वर्ष पूर्व आई और इसने यहाँ के आदिवासियों को हराकर पवित्रता की भावना और अपनी विजय पर गर्व होने के कारण इन लोगों ने यहाँ के आदिवासियों को सदैव ही अपने से दूर रखा।

इण्डो-आर्यन जब भारत में आए तो उनमें कम-से-कम तीन स्पष्ट वर्ग थे जिनमें आपस में विवाह प्रायः नहीं होता था, यद्यपि ऐसे विवाह बिल्कुल निषिद्ध न थे। भारत में आने पर उन्होंने सबसे पहले यहाँ के आदिवासियों से बने शूद्रों को अपनी धार्मिक पूजा आदि से अलग कर दिया और उनके साथ विवाह करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया। इस प्रकार **डॉ. घुरिये** के मतानुसार जाति-प्रथा के विविध तत्व आर्यों के उन प्रयत्नों के फल हैं जो उन्होंने भारत के आदिवासियों और शूद्रों को ब्राह्मण सभ्यता के धर्म और सामाजिक संसर्ग से अलग रखने के लिए किए।

डॉ. घुरिये के अनुसार, अन्तर्विवाह की उत्पत्ति सर्वप्रथम गंगा के मैदान में रहने वाले ब्राह्मणों में हुई थी और वहीं से अन्तर्विवाह की धारणा और जाति-प्रथा के अन्य तत्व ब्राह्मणों के अनुयायियों ने देश के दूसरे भागों में फैलाए। शारीरिक शुद्धता और सांस्कृतिक दृढ़ता को बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों के द्वारा किए गए प्रयत्नों के फलस्वरूप ही विभिन्न वर्ग एक-दूसरे से अलग रहे और जाति-प्रथा की संरचना का निर्माण किया। इस प्रकार जाति-प्रथा को जन्म देने वाले ब्राह्मण थे। दूसरे शब्दों में, "जाति-प्रथा इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है.....।"

(iii) **मजूमदार का सिद्धान्त (Theory of Majumdar)**—**डॉ. मजूमदार** भी जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय आधार को मानते हैं। **श्री काडरिंगटन** के सुझाव से सहमत होते हुए आपका मत है कि हमें जाति-प्रथा की उत्पत्ति का पता लगाने के लिए संस्कृत के शब्दों का सहारा लेना चाहिए। ऐसा ही एक शब्द 'वर्ण' है जिसके अर्थ 'रंग' और 'वर्ग' दोनों होते हैं। प्रारम्भ में तीन ऊँचे वर्ण एक-दूसरे से रंग के आधार पर भिन्न थे जो इण्डो-आर्यन प्रजाति तथा भारत के आदिवासी प्राग्-द्रविड़ और आदि-भूमध्यसागरीय प्रजातियों के मिश्रण से बने थे। ऐस प्रजातीय सम्मिश्रण के अनेक कारण थे—(क) आक्रमणकारी समूह में स्त्रियों की कमी, (ख) इनके घुमन्तू जीवन में भारत के आदिवासियों के स्थायी जीवन का आकर्षण, (ग) द्राविड़ संस्कृति की अति उन्नत अवस्था, मातृसत्तात्मक प्रणाली, देवियों की पूजा, संस्कार, मन्दिर, शिक्षा आदि इन अनेक कारणों से प्रजातीय सम्मिश्रण हुए।

दूसरी ओर, इन प्रजातियों के बीच संस्कृतियों के संघर्ष और प्रजातियों के सम्पर्क ने भारत में विभिन्न सामाजिक समूहों को पुष्ट किया और अन्तर्विवाही समूहों का निर्माण हुआ जिन्होंने अपनी प्रजातीय शुद्धता और सांस्कृतिक एकता के पूर्ण सम्मिश्रण रक्षा करने के प्रयत्न किए। इसी प्रयत्न में ऊपर के तीन वर्णों या जातियों ने महत्वपूर्ण पेशों पर अपने को दृढ़ रखकर अपनी ऊँची स्थिति को स्थायी रखा और दूसरों को इन पेशों को चुनने की स्वतन्त्रता न दी। इस वर्ण-परम्परा को समाज पर लादने के लिए ब्राह्मणों के प्रभाव को काम में लाया गया।

यद्यपि ऊँचे तीन वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ने अपना स्थान सबसे ऊँचा रखा, फिर भी महत्वाकांक्षी सामाजिक समूहों को सामाजिक संरचना में स्थान और अधिकार देना ही पड़ा जिनके फलस्वरूप एक संस्तरणात्मक संगठन का विकास हुआ। **श्री नेसफील्ड** का कथन था कि पेशों में ऊँच-नीच या अच्छाई-बुराई के अनुसार ही जाति-प्रथा में ऊँच-नीच का संस्तरण हुआ है परन्तु **डॉ. मजूमदार** के अनुसार जाति की स्थिति या पद इस बात पर निर्भर है कि उसमें किस परिमाण तक रक्त की शुद्धता है और कहाँ तक वह दूसरे सामाजिक समूहों से पृथक् रह सका है। ब्राह्मणों ने और जनजातीय समूहों ने अपनी-अपनी प्रजातीय शुद्धता को सबसे अधिक बनाए रखा है। इन दोनों समूहों के बीच अगणित सामाजिक समूह हैं। इनमें रक्त की शुद्धता और सांस्कृतिक सम्बन्धों में भेद पाए जाते हैं। इस सारी प्रणाली को गलती से हिन्दू जाति-प्रथा कहा जाता है।

समालोचना—(1) **श्री हट्टन** का कथन है कि प्रजातीय सिद्धान्त खाने-पीने के प्रतिबन्धों पर प्रकाश नहीं डालता। अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका में नीग्रो प्रजाति के लिए अलग होटल, जलपान-गृह आदि हैं, पर इनके छूने से किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं होती परन्तु भारत में अछूतों के छू लेने से भोजन आदि ऊँची जातियों के लिए अपवित्र क्यों हो जाता है, इसकी कोई भी व्याख्या इस सिद्धान्त में नहीं है।

(2) **श्री हट्टन** ने दूसरी आलोचना यह की है कि अगर प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताएँ और सम्पर्क ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति का कारण है तो भारत में बाहर से आए हुए मुसलमान और ईसाई भी, जिनमें ये दोनों प्रकार की भिन्नताएँ पाई जाती थीं, क्यों नहीं एक जाति बन सके? इसकी व्याख्या देने में यह सिद्धान्त पूर्णतया असफल रहा है।

(3) **श्री हट्टन** ने प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना करते हुए आगे लिखा है कि प्रजातीय भेद और पक्षपात के आधार पर अनुलोम विवाह को समझाया जा सकता है, पर इससे जाति-प्रथा की उत्पत्ति कैसे हुई, यह समझ में नहीं आता। प्रजातीय भेद और पक्षपात संसार के अन्य देशों में भी पाए जाते हैं, पर वहाँ कहीं भी जाति-प्रथा का विकास नहीं हुआ है। इसका क्या कारण है, यह प्रजातीय सिद्धान्त नहीं बतलाता।

(4) यह कहना भी गलत है कि वर्ण-व्यवस्था को समाज पर लादने के लिए ब्राह्मणों के प्रभाव को काम में लाया गया क्योंकि हट्टन के मतानुसार जाति-प्रथा की अनेक विशेषताएँ ऐसे भागों में फैली हैं जहाँ ब्राह्मणों का कोई प्रभाव नहीं है।

(5) अन्त में, इस सिद्धान्त में एक बहुत बड़ी कमी यह है कि यह केवल प्रजातीय आधार पर ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। जाति-प्रथा के विकास में यह एक कारण नहीं बल्कि अनेक कारणों का योग रहता है।

7. माना या आदिम संस्कृति का सिद्धान्त (Theory of Mana or Primitive Culture)

अपनी 1961 की जनगणना की रिपोर्ट में **श्री हट्टन** ने प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके मतानुसार भारतवर्ष के दुर्गम कोनों में आज भी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो हिन्दू, मुसलमान या बौद्ध के प्रभाव से बिल्कुल मुक्त हैं। इन स्थानों का प्रत्येक गाँव एक स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई है और प्रत्येक गाँव अधिकतर एक पेशा करता है अर्थात् पेशा और अन्य आधारों पर वहाँ भी कुछ-न-कुछ सामाजिक विभाजन है। इससे स्पष्ट है कि जाति-प्रथा के कुछ तत्व आर्यों के आने से पहले ही भारतवर्ष में मौजूद थे। आर्यों ने यहाँ आकर इस स्पष्ट विभाजन को और भी स्पष्ट बनाया और अपनी स्थिति को सबसे ऊपर रखा। यहाँ जाति-प्रथा की प्रारम्भिक अवस्था है।

जहाँ तक खाने-पीने और विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्धों का प्रश्न है, उनको समझाने के लिए श्री हट्टन ने 'माना' का सहारा लिया। 'माना' जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि अवैयक्तिक, अलौकिक तथा अदृश्य शक्ति है जो प्रत्येक चीज में एक विशिष्ट रूप में और मात्रा में पाई जाती है; जो स्पर्श द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आ-जा सकती है और जो अच्छे-बुरे दोनों तरह के फल दे सकती है। इसलिए 'माना' की शक्ति पर विश्वास रखने वाले लोग अपरिचित व्यक्तियों के स्पर्श से डरते हैं। भारत की नागा जनजाति में ऐसे ही डर के आधार पर खाने-पीने और विवाह के सम्बन्ध में अनेक निषेध पाए जाते हैं क्योंकि उनका यह विश्वास है कि अपरिचित व्यक्तियों का 'माना' से हो सकता है जो उन्हें नुकसान पहुँचा सकता है। अतः अपरिचितों का संस्पर्श खतरे से खाली नहीं होता, इसलिए उनसे बचना ही उचित है। 'माना' की शक्ति में विश्वास पारसियों, बौद्धों, मुलसमानों और हिन्दुओं में भी किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। आक्रमणकारी के रूप में जब आर्य लोग भारतवर्ष में आए तो उनके सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव ने भारतीय समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव को पनपाया। यह भेदभाव सरलता से पनप भी गया क्योंकि एक ओर आर्यों में भी सामाजिक वर्गों की निश्चित श्रेणियाँ थीं और दूसरी ओर भारत के मूल निवासियों में भी 'माना' की शक्ति में विश्वास के आधार पर अनेक निषेध और उसी के अनुसार विभिन्न समूहों का विभाजन था परन्तु भारत के मूल निवासियों के इन विभिन्न समूहों में ऊँच-नीच की भावना नहीं थी। यह आर्यों के सामाजिक प्रभाव के कारण प्रारम्भ हुई।

इसी आधार पर **श्री हट्टन** सोचते हैं कि (अ) निषेधों के प्रति जनजातीय मनोभाव, (ब) पेशों के आधार पर समाज का विभाजन, जैसा असम की नागा जनजातियों में पाया जाता है और (स) समस्त विचित्र और अपरिचित वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति कुसंस्कारों ने ही भारतीय समाज के ढाँचे का आकार बनाया है। इन्हीं आधारों पर भेदाभेद जब कठोर हो गए तो जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई।

6. जाति की
7. जाति की
8. जाति की
9. जाति की

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एन. के. दत्ता
(अ) दो
(स) सात
2. जाति निर्धार
(अ) राष्ट्र
(स) प्रजाति
3. जाति-व्यवस्था
(अ) कर्म से
(स) धर्म से
4. निम्नलिखित
(अ) भील
(स) क्षत्रिय
5. जाति उत्पत्ति
(अ) होकार्ट
(स) होकार्ट
6. प्रजाति मिश्र
(अ) होकार
(स) सेनार्ट
7. "व्यवसाय
(अ) घुरिये
(स) हट्टन

[उत्तर—1.

...वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है।'' —एक समाजशास्त्री

ारतीय जाति-प्रथा के दोषों का विश्लेषण करते हुए इसे एक सड़ी-गली, निरर्थक और हानिप्रद संस्था कह न एक फैशन-सा हो गया है। विशेषकर राजनैतिक नेताओं में यह संक्रामक रोग अधिक फैल चुका है। ाज राजनैतिक लोग ही जाति-प्रथा का सबसे अधिक दुरुपयोग क र रहे हैं। ऐसा सब कुछ होते हुए भी दो स्वीकार करना होगा। एक तो यह कि जाति-प्रथा हजारों वर्ष पुरानी संस्था रही है। अत: इसके कुछ क पक्ष अवश्य हैं। साथ ही इन्हीं हजारों वर्ष के विकास के दौरान जाति-प्रथा में पर्याप्त गन्दगी इकट्ठी हो र्थात् इसका एक विकृत रूप हमारे सामने है। सम्भवत: यही कारण है कि आज भारतीय जाति-प्रथा के क पक्ष में तेजी से विघटन हो रहा है और इसमें अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं परन्तु रिवर्तनों को जानने से पूर्व इस संस्था के प्रकार्यों या लाभों तथा अकार्यों या हानियों का अध्ययन भी है।

जाति के प्रकार्य या भूमिका या लाभ
(FUNCTIONS OR ROLES OR MERITS OF CASTE)

हट्टन ने जाति के जिन कार्यों या लाभों का उल्लेख किया है, उनके आधार पर इन्हें तीन भागों में बाँटा जा

ों के व्यक्तिगत जीवन में लाभ या भूमिका (Merits or Roles in the Life of Individual mbers)

विलसन ने व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकर मृत्यु तक उसके समस्त कार्यों पर जाति-प्रथा के ो उत्तम ढंग से समझाया है। आपने लिखा है कि ''जाति का प्रभाव व्यक्ति के जीवन के समस्त ौर घटनाओं पर होता है। इसका प्रतिबन्ध जीवन के भूत और भविष्य दोनों पर होता है। ी यह निश्चय करती है कि वह किस प्रकार का खाना खायेगा, किसके साथ बैठकर किसके हाथ का पानी पियेगा, किस प्रकार का कपड़ा पहनेगा, किस तरह के आभूषणों का ा और किसके साथ सामाजिक सहवास के विभिन्न पहलुओं में भागीदार बनेगा?'' अपने यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जाति के कार्य निम्नलिखित हैं—

ामाजिक स्थिति को निश्चित करना—जाति जन्म से ही अपने सदस्य की सामाजिक स्थिति को ती है जिसे न सम्पत्ति, न दरिद्रता, न सफलता और न किसी प्रकार की विपदा ही हटा सकती है, जब न के किसी नियम को स्वयं नहीं तोड़ता है। संक्षेप में, एक बार ब्राह्मण या शूद्र के परिवार में जन्म लेने त आजीवन ब्राह्मण या शूद्र ही कहलाएगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि जाति की सदस्यता मुख्यत: धारित है और जन्म के आधार को बदला नहीं जा सकता। एक व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता है, सार उसकी सामाजिक स्थिति स्वत: ही जाति के द्वारा निर्धारित हो जाती है। यह सच है कि आधुनिक जिक स्थिति को निश्चित करने का यह कार्य जाति के हाथ से निकल चुका है और शिक्षा, धन, सत्ता की रगमाजिक स्थिति को निश्चित करते हैं परन्तु ग्रामीण समुदायों में आज भी जाति का यह कार्य है क्योंकि इन समुदायों में जाति का महत्व आज भी कायम है, यद्यपि कुछ परिवर्तन होने लगे हैं।

2. मानसिक सुरक्षा प्रदान करना—जाति प्रत्येक व्यक्ति का पद और उसके कार्य को जन्म से ही निश्चित करके अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति पहले से ही यह जानता है कि किस समूह में उसे विवाह करना है, उसे किस प्रकार के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कार्यों में भाग लेना है इत्यादि। इन सब मामलों में उसे अपना मार्ग निश्चित करने के मानसिक झंझट में नहीं पड़ना पड़ता। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा प्रदान करना जाति-प्रथा का एक प्रमुख कार्य है।

3. पेशों का निर्णय—प्रत्येक जाति का पेशा जन्म से ही निश्चित हो जाता है और बचपन से ही उस पेशे के पर्यावरण में पलने के कारण उसके विषय में व्यक्ति को स्वतः ही सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पेशे के सम्बन्ध में व्यक्ति का जीवन एक निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ता है और बिना किसी विशेष प्रयत्न के वह अपने परम्परात्मक पेशों में निपुण हो जाता है।

4. जीवनसाथी का चुनाव—जाति का विवाह सम्बन्धी कार्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जाति इस बात का निर्णय करती है कि एक व्यक्ति को किस समूह में विवाह करना है, विवाह के सम्बन्ध में किन-किन प्रतिबन्धों का उसे पालन करना है, किसके साथ वह विवाह कर सकता है और किसके साथ नहीं? इन विषयों में जाति का निर्णय अन्तिम है और इसमें व्यक्तिगत इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, यद्यपि अब अन्तर्जातीय विवाह की समस्त वैधानिक अड़चनें दूर हो चुकी हैं, फिर भी इस प्रकार के विवाहों की संख्या को उंगलियों पर गिना जा सकता है। आज भी जीवनसाथी के चुनाव के सम्ब-- में जाति महत्वपूर्ण योगदान करती है।

5. सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना—जाति-[illegible] अपने सदस्यों के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। पहले सदस्यों के जीवन में किसी प्रकार की विपत्ति आने पर जाति अपने जातीय संगठन या जाति-पंचायत द्वारा उसकी सहायता करती थी; यहाँ तक कि वह दाह-क्रिया तक का प्रबन्ध कर देती थी परन्तु आधुनिक समय में राज्य द्वारा आयोजित व नियन्त्रित सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न योजनाओं के बन जाने के फलस्वरूप जाति का वह कार्य अब बहुत-कुछ समाप्त हो गया है। आधुनिक समय की इन सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की एक विशेषता यह है कि इन्हें किसी भी जाति विशेष के लाभ के लिए नहीं बनाया जाता बल्कि समाज के सभी सदस्यों को इन योजनाओं से लाभ मिलता है। इस कारण सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का जातीय कार्य अब उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता है।

6. व्यवहारों पर नियन्त्रण—प्रत्येक जाति के अपने नियम और प्रतिबन्ध होते हैं। इन नियमों और प्रतिबन्धों के द्वारा जाति अपने सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण करती है। जाति उसे यह बताती है कि उसे किन-किन संस्कारों को मानना है, किनके साथ सामाजिक दूरी बरतनी है, किन लोगों के साथ बैठकर वह खा-पी सकता है और किन लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? इस रूप में जाति का नियन्त्रण व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी क्षेत्रों में होता है।

(2) जातीय समुदाय से सम्बन्धित कार्य या भूमिका (Role or Merits Relating to Caste Community)

जाति न केवल व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्यों को करती है बल्कि जातीय समुदाय से सम्बन्धित अनेक कार्यों को भी करती है। इन कार्यों को हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

1. धार्मिक भावनाओं की रक्षा—व्यक्ति के धार्मिक जीवन पर जाति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। प्रत्येक जाति की अपनी धार्मिक विधियाँ होती हैं जिनकी वह जाति रक्षा करती है। कुछ विद्वानों ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि अलग-अलग जाति के कुछ अलग-अलग देवी-देवता भी होते हैं। **श्री देसाई के शब्दों में, "यह जाति ही है जो जनता के धार्मिक जीवन में अपने सदस्य की स्थिति को निश्चित करती है।"**

2. रक्त की शुद्धता को बनाए रखना—जाति विवाह सम्बन्धी विविध निषेधों द्वारा जाति के रक्त की शुद्धता को बनाए रखने में सहायक होती है। यद्यपि रक्त की शुद्धता की धारणा का आज कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, फिर भी जाति के अपने दृष्टिकोण से अपने से भिन्न जातियों, विशेषकर नीचे की जातियों के साथ सम्मिश्रण से बचने के लिए जाति-प्रथा एक उत्तम व्यवस्था है।

3. संस्कृति की रक्षा—श्री हट्टन का कथन है कि प्रत्येक जाति की अपनी एक निजी शिक्षा-पद्धति, ज्ञान, कुशलता, व्यवहार करने की विधि आदि होती है जिसे हम संस्कृति कहते हैं। प्रत्येक जाति में यह सब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है क्योंकि एक जाति के वयस्क सदस्य अपने नए सदस्यों को ये सब सिखा देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति अपनी संस्कृति को स्थिर बनाए रखती है।

4. सामाजिक स्थिति प्रदान करना—प्रत्येक जाति अपने समुदाय के लिए एक निश्चित सामाजिक स्थिति को निर्धारित करती है जिसके अनुसार जातीय संस्तरण में प्रत्येक की स्थिति निश्चित होती है। साथ ही सामुदायिक प्रचार और आन्दोलन के एक सामान्य संगठन के निर्माण के द्वारा जाति अपने सदस्यों की स्थिति को उन्नत करने में भी सहायक होती है। इस प्रकार कायस्थ, जिन्हें अब उत्तरी भारत में ब्राह्मणों के बाद ही समझा जाता है, 18वीं शताब्दी में कदापि इतनी उन्नत स्थिति में नहीं थे।

(3) सामाजिक कार्य या भूमिका (Social Functions or Roles)

जाति व्यक्ति के लिए या अपने जातीय समुदाय के लिए ही कार्य नहीं करती बल्कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज के लिए भी अनेक कार्यों को करती है। ये कार्य निम्नवत् हैं—

1. समाज के विकास और संरक्षा में सहायता करना—जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज के विकास और संरक्षण में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया है। सामाजिक दृष्टिकोण से हिन्दू समाज के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों को एक सूत्र में बाँधने का यह कार्य जाति-प्रथा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। **श्री फर्नीवाल** ने भारत को एक ऐसे देश का असाधारण दृष्टान्त माना है जहाँ 'एक बहु समाज' स्थिर रह सका है। आपके अनुसार, "जाति-प्रथा ने समाज को ऐसी अवस्था प्रदान की है जिसमें कोई भी समुदाय, चाहे वह प्रजातीय हो या सामाजिक या व्यावसायिक या धार्मिक, अपनी विशिष्ट प्रकृति और अपनी पृथक् सत्ता को बनाए रखते हुए अपने को समग्र समाज के एक सहयोगी अंग के रूप में उपयुक्त बना सकता है।"

इतिहास उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है। अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत में अनेक प्रजातियाँ, जैसे—शक, हूण, मंगोल आदि आक्रमणकारी के रूप में आती रहीं। भारत इन विभिन्न प्रजातियों की संस्कृतियों में समन्वय करता रहा और वे हिन्दू समाज का एक अंग बन गयीं। अनेक जनजातियाँ, जैसे—थारू, गोंड, भील, संथाल आदि भी क्रमशः हिन्दू समाज के निकट आ रही हैं और आश्चर्य नहीं कि वे भी एक दिन पूर्ण रूप से हिन्दू समाज का अंग बन जायें। इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को भी लीजिए, जैसे—जैन, सिक्ख, कबीरपंथी आदि भी हिन्दू समाज के अंग ही प्रतीत होते हैं। इन विभिन्न भिन्नताओं के बीच में भी हिन्दू समाज जाति-प्रथा के कारण ही 'एक समाज' के रूप में सुदृढ़ है।

2. राजनीतिक स्थिरता को बनाए रखना—सामाजिक दृष्टिकोण से जाति-प्रथा का एक दूसरा प्रमुख कार्य देश की राजनैतिक स्थिरता को बनाए रखना है। भारत पर विभिन्न समस्याओं में विदेशियों ने आक्रमण किए। मुसलमान और अंग्रेज आधुनिक समय में इसके उत्तम उदाहरण हैं लेकिन जाति-प्रथा ने भारतीय समाज और राजनैतिक संगठन को ही नहीं अपितु इसकी संस्कृति को भी नष्ट होने से बचाया। मिस्र, ईरान आदि देशों में भी इस्लाम ने पूर्ण विजय पाई और उनकी संस्कृति आदि को नष्ट करके उन्हें अपने साँचे में ढाला, पर भारत में ऐसी परिस्थिति केवल जाति-प्रथा के कारण ही नहीं आई। इसने एक प्रबल ढाल का काम किया और हिन्दू समाज के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया। **श्री हिल** ने स्वीकार किया है कि जाति-प्रथा ही एक ऐसी सामाजिक प्रथा है जिसका आधार दैवीय शक्ति से भी दृढ़ है।

3. समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था—**श्री हट्टन** ने जाति-प्रथा की उपयोगिता यह भी लिखी है कि जाति-प्रथा के कारण ही समाज के सब कार्य शिक्षा से लेकर सफाई तक, गृहस्थी के कार्य से लेकर सरकारी कार्य तक सुचारु रूप से चलते हैं और ये सभी कार्य धार्मिक विश्वास या 'कर्म' की धारणा के आधार पर किए जाते हैं। प्रत्येक जाति के सदस्यों में यह दृढ़ विश्वास होता है कि पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही उन्हें इस जन्म में एक विशिष्ट प्रकार का परिवार और कार्य मिला है, इस कारण उस कार्य को करना उनका कर्त्तव्य है। इसलिए गन्दे-से-गन्दे कार्य को या नीचे-से-नीचे निर्योग्यता को भी बिना किसी संकोच या दुःख के स्वीकार कर लिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, सामाजिक दृष्टिकोण से इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी 'कर्म' की धारणा के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे जन्म में अधिक अच्छे कुल या स्थिति को प्राप्त करने की अभिलाषा में इस जन्म में समाज द्वारा समस्त कार्यों को करने का प्रयत्न करता है। इससे, एक ओर, व्यक्ति को मानसिक द्वन्द्व, नैराश्य आदि से छुटकारा मिल जाता है और दूसरी ओर, सामाजिक एकता और संगठन विभिन्न सामाजिक समूहों में बिना किसी लड़ाई-झगड़े के निरन्तर बना रहता है।

4. सुप्रजनन की शुद्धता को बनाए रखना—**श्री सेजविक** के मतानुसार, जाति-प्रथा के आधार पर अन्तर्विवाह प्रथा से सुप्रजनन की शुद्धता बनी रहती है क्योंकि इसमें बाहर के समूह के वंशानुसंक्रमणीय दोष नहीं

आ पाते हैं परन्तु हमारे लिए **श्री सेजविक** के कथन से सहमत होना कठिन होगा क्योंकि विभिन्न जातियों के बीच विवाह होने से वंशानुसंक्रमणी दोष उत्पन्न होता है—इसका आज कोई वैज्ञानिक आधार व तर्क नहीं मिलता।

इस सम्बन्ध में **सर्वश्री मजूमदार** और **मदान** ने जाति-प्रथा के अन्य 'मौन कार्य' का उल्लेख किया है। हिन्दू परिवार में लड़के का महत्व अत्यधिक है क्योंकि उसके बिना परिवार की निरन्तरता और पूर्वजों की शान्ति (तर्पण, पिण्डदान आदि के रूप में) सम्भव नहीं। यह देखा गया है कि अन्तर्विवाह से लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का जन्म अधिक होता है। इस प्रकार जाति-प्रथा ने हिन्दुओं की हजारों पीढ़ियों को मानसिक शान्ति प्रदान की है।

5. समाजवादी ढाँचे का आधार—**डॉ. भगवानदास** जाति-प्रथा को प्राचीनकाल का सुपरीक्षित वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) मानते हैं। **श्री सिडनी लो** ने स्पष्ट लिखा है कि "जाति-प्रथा प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसका स्थान, कार्य, पेशा तथा मित्र-मण्डली प्रदान करती है। यह प्रारम्भ से ही उसे एक सामुदायिक संस्था का सदस्य बनाती है, जीवन-भर सामाजिक ईर्ष्या तथा अपूर्ण आकांक्षों की व्याधि से उसकी रक्षा करती है। हिन्दुओं के लिए जातीय संगठन उसका क्लब, उसकी ट्रेड यूनियन, उसे लाभ पहुँचाने वाली तथा उसका उपकार करने वाली संस्था है।"

6. शिक्षा दान—जाति व्यक्ति की, विशेषकर ग्रामीण व्यक्ति की शिक्षा के प्रति मनोवृत्ति को निश्चित करती है और उसे किस प्रकार की शिक्षा मिलेगी, यह भी स्थिर करती है। इस प्रकार ब्राह्मण की शिक्षा का आधार धर्म और बनियों की सन्तान का आधार व्यापार होता है। इस सम्बन्ध में जाति-प्रथा का एक व्यावहारिक लाभ यह है कि इसमें विभिन्न शिल्पकला और दस्तकारियाँ प्रत्येक जातीय परिवार में सुरक्षित रहती हैं और अपने परिवार में ही एक व्यक्ति इनको बहुत ही सरलता से सीख लेता है।

जाति-प्रथा से हानियाँ या अकार्य
(DEMERITS OR DYSFUNCTIONS OF CASTE SYSTEM)

अनेक लाभों के होते हुए भी जाति-प्रथा दोषों से मुक्त नहीं है। **श्री रिजले** का मत है कि जाति-प्रथा निम्न स्तर का संगठन है; यह विभक्त होकर उत्पन्न होती है और विकास के प्रत्येक पग पर उन्नति की शक्ति को व उसकी कार्यशैली को, जिसे वह मानने को कहती है, घटाती है। **डॉ. राधाकृष्णन** ने लिखा है कि "**दुर्भाग्यवश वही जाति-प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।**" उपर्युक्त कथन की यथार्थता जाति-प्रथा के निम्नलिखित दोषों से स्पष्ट हो जाती है—

(1) आर्थिक दृष्टिकोण से (From Economic Point of View)

1. श्रमिक की गतिशीलता में बाधक—जाति-प्रथा के अन्तर्गत हर व्यक्ति के लिए एक विशिष्ट प्रकार का पेशा निश्चित होता है, इसलिए उसे प्रायः उसके बाहर पेशों को चुनने में कठिनाई होती है चाहे अन्य किसी पेशे के लिए वह कितना ही योग्य क्यों न हो। सच यह है कि आज जाति के आधार पर पेशे का चुनाव कोई नहीं करता या बहुत कम लोग करते हैं, फिर भी यह जातीय प्रतिबन्ध एक व्यक्ति को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं करता और वह स्वतन्त्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर पेशे को चुन नहीं पाता है। इससे श्रमिक की स्वतन्त्र गतिशीलता रुक जाती है।

2. श्रमिक की कुशलता में बाधक—जाति-प्रथा के अनुसार ऊँची जातियों के लिए माँस, मछली, अण्डा आदि खाना निषिद्ध है और साथ ही इस देश में निर्धनता के कारण दूध, घी, फल, साग-सब्जी तथा ऐसे ही अन्य पौष्टिक भोजन श्रमिक को नहीं मिल पाते। इससे प्रायः श्रमिकों का स्वास्थ्य गिर जाता है और वे कोई भी जटिल मानसिक कार्य करने की कुशलता प्राप्त नहीं कर पाते। साथ ही जाति-प्रथा के नियमानुसार एक छोटे समूह के अन्दर निरन्तर अन्तर्विवाह करने से वंशानुसंक्रमण के अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिससे जनता के स्वास्थ्य और कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. आर्थिक विकास में बाधक—जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को अनेक छोटे-छोटे भागों में विभाजित कर दिया है और इनमें आपस में न तो मेल-जोल है और न ही सामुदायिक भावना। इससे सब एक-साथ मिलकर देश के आर्थिक विकास के लिए प्रयत्न करने की बात नहीं सोचते और न ही जातिवाद उन्हें सोचने देता है। एक जाति के सदस्य अपनी जातीय भावना से प्रेरित होकर अपनी ही जाति के लोगों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते हैं और

म पर शासन करते रहे। भारत में लोकसभा, विधानसभा, पंचायत आदि के अनेक उम्मीदवारों के आधार पर नहीं बल्कि जाति के आधार पर वोट दिया जाता है।

में बाधक—जाति-प्रथा का आधार ऊँच-नीच की भावना है जिसने हिन्दुओं को विभिन्न है। जाति-प्रथा के अन्तर्गत ऊँच-नीच का संस्तरण एक हिन्दू को दूसरे से पृथक् करता है, मान, ईसाई, पारसी आदि के मेल-मिलाप की सम्भावना तो और भी कम हो जाती है। इस खण्डों और उपखण्डों में विभाजित हो जाता है और जाति-पाँति व छुआछूत के कारण उनमें 'हम' की भावना नहीं पनप पाती। इसका परिणाम यह होता है कि देश एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप ित करने में असफल होता है।

ष्टिकोण से (From Cultural Point of View)

के अन्तर्गत अनेक विभाजन और ऊँच-नीच का भाव होने के कारण सांस्कृतिक एकीभाव है। अनेक विद्वान यह कहते हैं कि भारत में अनेक विभिन्नताओं के बीच भी एक सांस्कृतिक के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत करने पर भी यह प्रमाणित करना कठिन है कि जाति-प्रथा के र सभी जाति के लोग एक साथ मिलकर सांस्कृतिक उन्नति के सम्बन्ध में प्रयत्नशील रहे हैं। बँटा पाते। किन्हीं-किन्हीं जातियों में पारस्परिक द्वेष तथा घृणा के भाव इतने स्पष्ट हैं कि वे कृति को नष्ट करने का प्रयत्न हैं।

ष्टिकोण से (From Social Point of View)

ति की तानाशाही—जाति-प्रथा के अन्तर्गत ऊँची जातियों को अनेक विशेषाधिकार मिले हुए धिकारों से लाभ उठाकर उच्च जाति के सदस्य अनेक प्रकार के अन्यायपूर्ण कार्य भी करते हैं। ी अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त है। धर्म की आड़ में ब्राह्मणों के अनेक कुकर्मों का देवदासी प्रथा उनमें से ही एक है। इस प्रथा के अन्तर्गत लड़कियों को देवता की सेवा करने के न कर दिया जाता है और उन्हें उन मन्दिरों के ब्राह्मण पुरोहित तथा धर्म की छत्रछाया में वेश्याओं करना पड़ता है।

वर्तन—उच्च जाति की तानाशाही के कारण निम्न जाति, विशेषकर तथाकथित अछूत जाति ही दयनीय हो गई और उन्हें अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक निर्योग्यताओं का इस कारण हजारों हिन्दुओं ने अपने धर्म को त्याग कर ईसाई या मुसलमान धर्म को स्वीकार एक ओर स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में बाधा पहुँची और दूसरी ओर हिन्दू समाज के जातीय वक्का लगा।

ता—मनुष्य दूसरे मनुष्य को कितना हीन समझ सकता है, इसका एक नग्न रूप जाति-प्रथा के ा अस्पृश्यता की धारणा है। उन लोगों को, जिन्हें जातीय संस्तरण में निम्नतम स्थान प्राप्त है, देखना भी पाप समझा जाता है। साथ ही उन्हें स्वाभाविक सामाजिक जीवन से बहुत दूर रखा कितनी ही सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ लाद दी गई थीं। समाज में उनकी दशा नीय थी और ग्रामीण समुदायों में अब भी है। मनुष्य के हृदय में मनुष्य के लिए ही इतनी घृणा , यह सोचना भी शायद पाप है, पर जाति-प्रथा का यही आदर्श है। अस्पृश्यता हिन्दू समाज का

की गिरी हुई दशा—जाति-प्रथा हिन्दू स्त्रियों की गिरी हुई दशा का एक प्रमुख कारण है। क जाति-प्रथा के नाम पर दिन-प्रतिदिन स्त्रियों के अधिकारों को एक-एक करके छीन लिया

गया। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया, उनकी गतिशीलता पर रोक लगाई गई, विवाह का अर्थ समझने से पहले ही उनका विवाह कर दिया गया और विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह का अधिकार तक न दिया गया। प्रतिवर्ष बच्चा पैदा करना ही उनका काम और दासी बनकर सबकी, विशेषकर पति की, सेवा करना ही उनका एकमात्र कर्त्तव्य रह गया।

5. अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण—जाति-प्रथा के अन्तर्गत अन्तर्विवाह सम्बन्धी कठोर नियम हैं। उसके कारण कुलीन विवाह, वरमूल्य-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर रोक आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। कुलीन विवाह का एक प्रमुख कारण यह बताया गया है कि लोग अपनी लड़की का विवाह अपने से उच्च कुल में करके अपनी जातीय प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि उच्च कुलों में निम्न कुलों के सभी माता-पिता अपनी लड़कियों का विवाह करने का प्रयत्न करते हैं। फलतः उच्च कुलों में लड़कों की कमी होती है और उनकी माँग अधिक। इसलिए वरमूल्य-प्रथा या अधिकाधिक दहेज देकर लड़का प्राप्त करने की प्रवृत्ति पनपती है। इससे बचने के लिए जल्दी विवाह कर देने की प्रवृत्ति विशेषतः लड़कियों के माता-पिता में पनपती है। इसी से बाल-विवाह प्रथा का जन्म होता है। बाल-विवाह का एक परिणाम यह होता है कि समाज में बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ती है जो स्वयं एक कटु समस्या बन जाती है। जाति-पाँति का नियम अगर न हो, अगर अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध न हो तो उपर्युक्त कोई भी समस्या समाज में न पनपे। इसी प्रकार **श्री वेस्टरमार्क** का कथन है कि अन्तर्विवाह के कारण समाज में लड़कियों की संख्या लड़कों से अधिक होती है। जनसंख्यात्मक दृष्टिकोण से यह भी समाज के लिए हितकर सिद्ध नहीं होता और अनेक सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है।

6. प्रगति में बाधक—जाति-प्रथा सामाजिक प्रगति में भी बाधक है। जाति से निकाल दिये जाने के डर से लोग अपने परम्परागत ढंग से ही कार्य करते हैं और नई दिशा में पग नहीं रखते अर्थात् जाति-पाँति के नियम और प्रतिबन्धों के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में नए प्रयोग नहीं हो पाए हैं या उनको करने में बाधा उत्पन्न होती है। इससे नए आविष्कार नहीं हो पाते और दूसरी ओर पृथक्ता की नीति व रूढ़िवादिता के कारण दूसरों के आविष्कारों से लाभ उठाना भी सम्भव नहीं हो पाता है।

आधुनिक भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका (Role of Caste in Modern Indian Politics)

प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण का एक उल्लेखनीय पक्ष भारतीय राजनीति में जाति की 'घुसपैठ' है। जाति-प्रथा सामाजिक संस्तरण की भारतीय व्यवस्था का मुख्य आधार रही है और हाल के अध्ययनों से पता चलता है कि यह व्यवस्था जातीय संगठनों के माध्यम से आज भी सामाजिक संस्तरण की राजनीतिक माँगों को पूरा करने में सक्रिय है और भी स्पष्ट रूप में, आधुनिक भारतीय राजनीति में जाति का उपयोग राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक समर्थन पाने के लिए बहुत अधिक किया जाता है। **प्रो. रजनी कोठारी** ने भी लिखा है कि आज राजनीति एक प्रतियोगी उद्यम (competitive enterprise) है और इसका उद्देश्य कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शक्ति को अर्जित करना है। इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण है संगठन और समर्थन (organization and support) और जाति के सदस्यों में जो जातिगत वफादारी होती है, उसके आधार पर इन दोनों (संगठन व समर्थन) को हासिल कर लेना सरल है। अतः **प्रो. कोठारी** के अनुसार, आज जिसे 'राजनीति का जातिवाद' (Casteism of Politics) कहा जाता है, वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण (Politicization of Caste) ही है। आधुनिक समय में यदि जाति-प्रथा को अपने संगठन के जाल में ले आने से राजनीति को अपने लिए मसाला मिल जाता है तो दूसरी ओर राजनीति में सक्रिय होने से जातीय समूहों को अपनी पहचान बनाने तथा पद व शक्ति प्राप्त करने का अवसर भी मिल जाता है।

प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार जाति की राजनीतिक भूमिका दो स्तरों से गुजरी है—**प्रथम स्तर** पर राजनीतिकरण की यह प्रक्रिया परम्परागत प्रबल जातियों (dominant castes) तक ही सीमित रही, जैसे—दक्षिण में ब्राह्मण तथा उत्तर में क्षत्रिय, ब्राह्मण, कायस्थ आदि। इसे **प्रो. कोठारी** ने 'खाईबन्द जातियों' (entrenched castes) की राजनीति कहा है। **दूसरे स्तर** पर इन प्रबल या खाईबन्द जातियों को निम्न मध्यम जातियों, यहाँ तक कि 'निम्न' जातियों तक ने चुनौती देना आरम्भ किया और उनमें राजनीतिक चेतनता उत्तरोत्तर बढ़ती रही। ऐसा होने में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी प्रायः एक दशक का समय लगा। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश में कुर्मी, अहीर एवं कुछ अनुसूचित जातियाँ भी धीरे-धीरे राजनीतिक शक्ति के नए दावेदार के रूप में उभरने लगीं। **प्रो. कोठारी** ने उन्हें 'उदीयमान' जाति (ascendant castes) कहा है जिनके उदय से भारतीय राजनीतिक को एक जनाधार